॥ व्यक्तिविवेकः ॥

व्याख्या करें-

1. "उक्तं गुणीकृतात्मत्वं यदर्थस्य विशेषणम्। गमकत्वान्न तत्तस्य युक्तमव्यभिचारतः॥"

प्रसङ्ग:– ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने ध्वनिलक्षण में जो अर्थ का 'गुणीकृतात्मत्व' यह विशेषण लिखा है। महिमभट्ट के अनुसार इसमें युक्ति संगतत्व नहीं है। इसी बात का कथन प्रकृत कारिका में किया गया है।

व्याख्या:– आनन्दवर्धन ने ध्वनि का लक्षण 'ध्वन्यालोक' में यह दिया है–

"यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यंक्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः॥" (ध्वन्यालोक)

इस कारिका का अर्थ यह है कि जहाँ अर्थ स्वयं को गुणीभूत करके तथा शब्द अपने अर्थ को गुणीभूत करके उस प्रतीयमान अर्थ को व्यक्त करते हैं, वह काव्य विशेष विद्वानों द्वारा ध्वनि नाम से व्यवहृत होता है।

इस कथन में महिमभट्ट दोष दिखलाते हुए कहते हैं, कि जो अर्थ का विशेषण गुणीकृतात्मत्व है, वह उचित नहीं है। यह प्रतीयमानार्थ का ज्ञापक है अतः गुणीभाव का उसमें व्यभिचार नहीं रहता है। अर्थात् यह अर्थ प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति के लिए उपयुक्त होता है अतः उसमें तो उपसर्जनीकृतात्मकता रहती ही है। जो जिसके लिए गृहीत होता है वह तो गौण हो ही जाता है। उदाहरण के लिए अग्नि आदि की सिद्धि के लिए धूम आदि का ग्रहण होता है तो धूम आदि वहाँ गुणीभूत ही होते हैं। महिमभट्ट ने इस तथ्य को वृत्ति में भी बताया है– "अर्थस्य तावदुपसर्जनीकृतात्मत्वमनुपादेयमेव। तस्यार्थान्तरप्रतीत्यर्थमुपात्तस्य तद्व्यभिचाराभावात्। न ह्यग्न्यादिसिद्धौ धूमादिरुपादीयमानो गुणतामतिवर्तते। तस्य तन्मात्रलक्षणत्वात्।" (व्यक्तिविवेक)

महिमभट्ट ध्वनि को नहीं मानते हैं। वे ध्वनि का अन्तर्भाव अनुमान में करना चाहते हैं अतः यहाँ वे साध्य साधन भाव मानते हैं। वाच्यार्थ साधन है तथा प्रतीयमान अर्थ साध्य है। जो साधन होता है, वह गौण होता ही है, जैसे धूम साधन होने से गौण है तथा अग्नि साध्य होने से प्रधान है। अतः ध्वनि लक्षण में अर्थ के गौणत्व का कथन दोष है।

महिमभट्ट वाच्यार्थ को सर्वत्र गौण ही मानते हैं और इस प्रकार अनुमान के द्वारा प्रतीयमानार्थ को अनुमेय अर्थ मानते हैं। व्यक्तिविवेककार महिमभट्ट गुणीभूत व्यंग्य काव्य को स्वीकार नहीं करते हैं। ध्वनिकार ने गुणीभूत व्यंग्य को भी स्वीकृत किया है। अतः आनन्दवर्धन वाच्यार्थ की प्रधानता को भी मानते हैं। परन्तु व्यक्तिविवेककार यह कहते हैं कि जहाँ समासोक्ति आदि में वाच्यार्थ प्रधान प्रतीत होता है वह प्रकरण की अपेक्षा से है प्रतीयमान की अपेक्षा से नहीं– "यत्पुनरस्य क्वचित् समासोक्त्यादौ प्राधान्यमुच्यते तत् प्राकरणिकत्वापेक्षयैव न प्रतीयमानापेक्षया।" (व्यक्तिवि...

इसप्रकार अर्थ का उपसर्जनीकृतात्मत्व तो नियमतः प्राप्त है इसका कथन नहीं करना चाहिए। यह ध्वनि लक्षण में एक दोष दिखाया गया है।

विशेष :- किसी विशेषण में सम्भव तथा व्यभिचार का होना आवश्यक होता है - "सम्भवव्यभिचाराभ्यां स्याद् विशेषणमर्थवत्।" उदाहरण के लिए 'नीलमुत्पलम्' में सम्भव तथा व्यभिचार दोनों हैं अतः यह सार्थक विशेषण हुआ। व्यभिचार का अभाव 'उष्णोऽग्निः' में है यहाँ सम्भव तो है किन्तु व्यभिचार नहीं। 'शीतोऽग्निः' इसमें व्यभिचार है किन्तु सम्भव का अभाव है। इसी प्रकार अर्थ के गुणीकृतात्मकत्व में व्यभिचार का अभाव होने से यह अर्थ का उचित विशेषण नहीं है।

---

२. "तदेवं वाच्यप्रतीयमानयोर्वक्ष्यमाणक्रमेण लिङ्गलिङ्गिभावस्य समर्थनात् सर्वस्यैव ध्वनेरनुमानान्तर्भावः समन्वितो भवति, तस्य च तदपेक्षया महाविषयत्वात्।"

प्रसङ्ग :- व्यक्तिविवेककार का मुख्य ध्येय ध्वनि का अनुमान में अन्तर्भाव करना है, यह बात महिमभट्ट ने व्यक्तिविवेक के प्रथम श्लोक में ही लिखी है- "अनुमानेऽन्तर्भावं सर्वस्यैव ध्वनेः प्रकाशयितुं। व्यक्तिविवेकं कुरुते प्रणम्य महिमा परां वाचम्॥" इस प्रकार वाच्य अर्थ तथा प्रतीयमान अर्थ का लिङ्गलिङ्गी भाव मानकर ~~अनुमान~~ ध्वनि को निरर्थक बतलाते हुए अनुमान द्वारा व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति मानते हैं।

व्याख्या :- वाच्य तथा प्रतीयमान अर्थों की प्रतीति क्रम से होती है समकालिक नहीं। यह बात ध्वनिकार ने भी मानी है -"वाच्यार्थपूर्विका तद्वत्प्रतिपत्तस्य वस्तुनः। (वृत्ति)- वाच्यार्थप्रतीतिपूर्विका व्यङ्ग्यार्थस्य प्रतिपत्तिः।" (ध्वन्यालोक प्र० उ०) अतः वाच्य तथा प्रतीयमानार्थ की क्रम से प्रतीति होने के कारण इनमें गम्यगमक भाव माना गया है जैसा कि महिमभट्ट लिखते हैं-"वाच्यप्रतीयमानयोरर्थयोर्यथा क्रमेणैव प्रतीतिर्न समकालं यथा चानयोर्गम्यगमकभावः।" (व्यक्तिवि०)

इसी प्रकार विभावादि ही रस नहीं हैं अपितु विभावादि के द्वारा रसों की प्रतीति होती है अतः उनमें भी कार्यकारण भाव सम्बन्ध है-"विभावादिप्रतीत्यविनाभाविनी रसादीनां प्रतीतिरिति तत्प्रतीत्योः कार्यकारणभावेनावस्थानात् क्रमोऽवश्यम्भावी यह विभावादि तथा रस का क्रम शीघ्रता से लक्षित नहीं होता है अतः रस असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य कहे जाते हैं।

इस प्रकार जो वाच्य अर्थ है उससे प्रतीयमानार्थ का अनुमान होता है तथा वाच्य अर्थ तथा प्रतीयमानार्थ में लिङ्गलिङ्गि भाव सम्बन्ध है। जैसे धूम से वह्नि का अनुमान होता है। यहाँ धूम लिंग है और अग्नि लिङ्गी है अथवा धूम साधन है तथा अग्नि साध्य है। लिङ्ग (धूम) १. पक्षसत्त्व अर्थात् महानस में रहता है। २. सपक्षसत्त्व

अर्थात् जहाँ साध्य का सन्देह किया जाय पर्वतादि पर रहता है। 3. विपक्षव्यावृत्ति -
जहाँ साध्य का अभाव है वहाँ महाह्रद आदि में नहीं रहता है। पर्वत पर वह्नि का
अनुमान इस प्रकार होता है - "पर्वतोऽयं वह्निमान् धूमवत्त्वात् यत्र यत्र धूमस्तत्र
तत्र वह्निः यथा महानसे।" इस प्रकार वाच्यार्थ से प्रतीयमानार्थ का भी अनुमान होता
है - जैसे - "भ्रम धार्मिक! विस्रब्धः स शुनकोऽद्य मारितस्तेन।
गोदावरीकच्छकुञ्जवासिना दृप्तसिंहेन॥"
यहाँ वाच्यार्थ 'भ्रम धार्मिक' विधि रूप है किन्तु अनुमान से यह निषेध रूप
प्रतीत होता है। अनुमान यह है - "गोदावरी तीरं भीरुभ्रमणायोग्यम्,
दृप्तसिंहवत्त्वात्। यन्नैवं तन्नैवं यथा प्रमदोद्यानम्।"
यहाँ गोदावरी नदी के किनारे भ्रमण न करना' यह साध्य है तथा 'दृप्तसिंह का
होना' साधन है। जहाँ सिंह नहीं है प्रमदोद्यान भ्रमण के योग्य है।
इस प्रकार ध्वनि का अनुमान में ही अन्तर्भाव होता है क्योंकि अनुमान का ध्वनि की
अपेक्षा महाविषयता है। जहाँ ध्वनि नहीं जा सकती है ऐसे पर्यायोक्त आदि अलंकारों
तथा गुणीभूतव्यङ्ग्य स्थलों में भी अनुमान चला जाता है। जैसा कि महिमभट्ट
ने लिखा है - "महाविषयत्वं चास्य ध्वनिव्यतिरिक्तेऽपि विषये पर्यायोक्तादौ
गुणीभूतव्यङ्ग्यादौ च सर्वत्र सम्भवात्।"
अनुमान भी दो प्रकार का होता है (क) स्वार्थानुमान - अपने लिए किया गया अनुमान
(ख) परार्थानुमान - दूसरे को बताने हेतु किया गया अनुमान।
काव्यानुमान परार्थानुमान ही होता है। पञ्चावयव वाक्य को परार्थानुमान
कहते हैं। इसके प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय, निगमन ये पंच अवयव होते हैं
उपर्युक्त ध्वनि के उदाहरण में ये पाँचों विद्यमान हैं -
प्रतिज्ञा - गोदावरीतीरं भीरुभ्रमणायोग्यम्।
हेतु - सिंहवत्त्वात्।
उदाहरण - सिंहनिवासस्थानम्। (प्रायः उदाहरण नहीं होता है)
उपनय - तथा चेदम्
निगमन - तस्मात् तथा।
पाँचों अवयवों में से प्रारम्भ के तीन ही वाक्य कार्यसाधक हैं अतः शेष स्वयमेव
बन जाते हैं।
विशेष :- "त्रिरूपलिङ्गाख्यानं परार्थानुमानमिति केवलमुक्तनयानभिज्ञतया तत्र
लक्षयत्प्रविचक्षणो लोकः।" के अनुसार काव्यानुमान में दृष्टान्त (उदाहरण)
का प्रयोग नहीं होता है क्यों कि अनभिज्ञों को ही उदाहरण चाहिए, जो जानते हैं, उन्हें
आवश्यक नहीं। इसी लिए काव्य का अनुमान तर्कशास्त्र के अनुमान से भिन्न है क्यों
तर्कशास्त्र के अनुमान में हेतु व्याप्ति आदि का होना जरूरी है। उदाहरण के बिना भी काव्य का
... हो जाता है।

3. "मणिप्रदीपप्रभयोर्मणिबुद्ध्याभिधावतोः। मिथ्याज्ञानाविशेषेऽपि विशेषोऽर्थक्रियां प्रति॥"

<u>प्रसंग</u> :- यह कारिका बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्ति के 'प्रमाणवार्तिक' में मिलती है।

जिस प्रकार मणि की प्रभा तथा दीपक की प्रभा में मणि की बुद्धि समझकर दौड़नेवाले मिथ्याज्ञान में कोई अन्तर न होने पर भी फल में अन्तर होता है उसी प्रकार रस में दुष्यन्त आदि की प्रतीति मिथ्या प्रतीति है, परन्तु फिर भी रसानुभूति रूप फल प्राप्त होता है - इस सम्बन्ध में यह कारिका उद्धृत की गयी है।

<u>व्याख्या</u> :- प्रत्यक्ष पदार्थ स्पष्टतया ज्ञात होने पर भी सहृदयों के लिए चमत्कारी नहीं होता है जितना कि कुशल कवि की प्रतिभा शक्ति से उल्लिखित पदार्थ चमत्कार जनक होते हैं :- "कविशक्त्यर्पिता भावास्तन्मयीभावयुक्तितः।

यथा स्फुरन्त्यमी काव्यान्न तथाध्यक्षतः किल॥"

इसी प्रकार हेतु आदि से अनुमित पदार्थ उतना चमत्कारोत्पादक नहीं होता, जितना विभावादि से अनुमित पदार्थ चमत्कारी होता है। वाच्यार्थ उतना सुख नहीं प्रदान करता है जितना अनुमित प्रतीयमानार्थ। जैसा कि महिमभट्ट ने उद्धृत किया है-

"नानुमितो हेत्वाद्यैः स्वदतेऽनुमितो यथा विभावाद्यैः।

न च सुखयति वाच्योऽर्थः प्रतीयमानः स एव यथा॥"

काव्य या नाटक आदि में जब हम दुष्यन्त आदि के विषय में पढ़ते या देखते हैं तो वहाँ दुष्यन्त आदि केवल भ्रान्ति मात्र ही होते हैं उनमें वास्तविकता नहीं है। तथापि उनसे होने वाली रसानुभूति और उपदेश सत्य ही होते हैं। इस प्रकार विभावों के माध्यम से अनुमित रत्यादि स्थायीभाव आह्लाद उत्पन्न करने वाले होते हैं। लोक में भी जब हम दुष्यन्त तथा शकुन्तला आदि के वृत्तान्त के समान किसी दो प्रेमी प्रेमिकाओं में प्रीति देखते हैं तो हमें लज्जा, द्रोह, क्रोध आदि होने लगता है। यदि उस लोक वृत्त से किञ्चित् आनन्द भी मिलता है तो उतना नहीं जितना काव्य को पढ़कर या देखकर मिलता है। इस प्रकार जो काव्य में दुष्यन्तादि की भ्रान्ति भी होती है वह भी सम्बन्ध विशेष से प्रमा है। जैसे वेदान्त दर्शन में कहा गया है- "भ्रान्तिरपि सम्बन्धतः प्रमा।"

जो यथार्थ अनुभव होता है वही प्रमा है - "यथार्थानुभवः प्रमा।" (तर्कभाषा) यह दुष्यन्त आदि मिथ्या प्रतीति से होनेवाली रसानुभूति रूप प्रमा उसी प्रकार है जैसे मणि की प्रभा तथा दीपक की प्रभा को मणि है ऐसा मानकर दो व्यक्ति भ्रमित होकर उनकी ओर दौड़ते हैं तो जो मणिप्रभा की तरफ दौड़ा है उसे मणि की प्राप्ति हो जाती है। मणि की प्रभा में मणि की भ्रान्ति संवादिनी है। दीपक की प्रभा में मणि के लोभ से दौड़ा व्यक्ति मणि नहीं पाता है यह विसंवादिनी भ्रान्ति है। इसी प्रकार रस आदि भ्रान्ति रूप हैं किन्तु इनमें संवादिनी भ्रान्ति होती है। अ-भ्रमित सहृदय भी रसानुभूति रूप आनन्द उठाने लगते हैं।

विशेष !— प्रस्तुत कारिका का विवेचन 'ध्वन्यालोक' में इस प्रकार किया गया है कि किसी मन्दिर के भीतर मणि रखी है तथा दूसरे मन्दिर के भीतर दीप रखा है। दोनों मन्दिरों के कपाट बन्द हैं कपाट में अपवरक (एकप्रकार के गोल छिद्र) से दोनों की प्रभा निकल कर गोल मणि जैसी लग रही है। दो व्यक्ति उसे पाने के लिए अलग-अलग दोनों मन्दिरों में जाते हैं। पहिले मन्दिर में गया व्यक्ति दरवाजा खोल कर मणि को प्राप्त कर लेता है किन्तु दूसरे मन्दिर में गया व्यक्ति मणि नहीं प्राप्त कर पाता है क्यों कि वहाँ दीपक ही जल रहा था, मणि नहीं थी। इसप्रकार मणिप्रभा में मणि की भ्रान्ति तथा दीपप्रभा में मणि की भ्रान्ति दोनों भ्रान्ति ही हैं। तथापि मणिप्रभा में मणि की भ्रान्ति संवादिनी है। दीपप्रभा में मणि की भ्रांति विसंवादिनी है। 'ध्वन्यालोक' में इसका विवरण यह है—

"प्रदीपोऽपवरकस्यान्तर्वर्तते तत्प्रभा बहिः न दृश्यते द्वार्यथान्यत्र तद्वद्दृष्टा मणेः प्रभा।
दूरे प्रभाद्वयं दृष्ट्वा मणिबुद्ध्याभिधावतोः। प्रभायां मणिबुद्धिस्तु मिथ्याज्ञानं द्वयोरपि॥
न लभ्यते मणिर्दीपप्रभां प्रत्यभिधावता। प्रभायां धावताऽवश्यं लभ्यते तैव मणिर्मणेः॥
दीपप्रभा मणिभ्रान्तिर्विसंवादिभ्रमस्ततः। मणिप्रभामणिभ्रान्तिः संवादिभ्रम उच्यते॥"

---

९. "वाच्यो गुणीकृतार्थत्वं न सम्भवति जातुचित्। तदर्थं तदुपादानादुदकार्थं दृतेरिव॥"

प्रसंग:— ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने ध्वनि लक्षण की कारिका में 'यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ' कहकर शब्द के उपसर्जनीकृतार्थत्व का प्रतिपादन किया है। व्यक्ति विवेककार इसी का खण्डन इस कारिका में किया है।

व्याख्या!— आनन्दवर्धन की कारिका में दोष दिखाते हुए कहते हैं कि शब्द का उपसर्जनीकृतार्थत्व कदापि सम्भव नहीं हो सकता है। क्यों कि उस शब्द का ग्रहण उस अर्थ के लिए होता है। जैसे जल के लिए दृति (मशक) का उपादान किया जाता है। यदि शब्द ही अपने अर्थ को गौण कर लेगा तो उस अर्थ की प्रधानता ही नहीं रहेगी। महिमभट्ट की यह बात तथ्यपूर्ण नहीं है क्योंकि शब्द का अर्थ वाच्यार्थ ही होता है, और वाच्यार्थ के द्वारा व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होती है। इस अवस्था में शब्द का गुणीकृतार्थत्व जो वाच्य के लिए कहा गया है, वह उचित ही है। व्यक्ति विवेककार की इस कारिका का खण्डन व्यक्ति विवेक व्याख्यानकार सम्यक् तद्वत् कारिका के द्वारा करते हैं:—

"वाच्यो गुणीकृतार्थत्वं व्यङ्ग्यमर्थं प्रति स्थितम्।
तदर्थं तदुपादानादुदकार्थं दृतेरिव॥"

अर्थात् शब्द का उपसर्जनीकृतार्थत्व उचित ही है, वह व्यंग्य अर्थ के प्रति होता है। जैसे उदक के लिए दृति का उपादान उस व्यङ्ग्य के लिए होता है जैसे उदक के लिए दृति का उपादान होता है। व्यक्ति विवेककार का यह कथन उचित नहीं है कि ध्वनि

लक्षण की कारिका में शब्द का गुणीकृतार्थत्व नहीं हो सकता।

पृ. "नापि वाच्यप्रतीयमानयोर्मुख्यवृत्त्या व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावः सम्भवति व्यक्ति-लक्षणानुपपत्तेः।"

प्रसङ्ग :- वाच्य तथा प्रतीयमान अर्थों का मुख्य रूप से व्यङ्ग्य-व्यंजक भाव बनता ही नहीं है इसप्रकार व्यञ्जना का लक्षण ही निष्पन्न नहीं होता। इसी सम्बन्ध में व्यक्तिविवेककार ने कहा है।

व्याख्या :- व्यक्ति (अभिव्यक्ति) दो प्रकार की कही गयी है (क) सद्-विषयक अभिव्यक्ति। (ख) असद्विषयक अभिव्यक्ति।

सद् विषयक अभिव्यक्ति तीन प्रकार की है—

(i) शक्तिरूप से अवस्थित वस्तु की अभिव्यक्ति जैसे दूध आदि की अवस्था में दही आदि की अभिव्यक्ति होती है। (परिणति अभिव्यक्ति)

(ii) घने अन्धकार से आच्छादित घट आदि वस्तुओं की प्रदीप आदि के प्रकाश द्वारा प्रकाशन रूप अभिव्यक्ति। जैसे प्रदीप से अन्धकाराच्छन्न घट की अभिव्यक्ति)

(iii) संस्कार रूप में स्थित पूर्वानुभूत वस्तु का किसी उद्बोधक पदार्थ के द्वारा अभिव्यक्ति। जैसे-धूम से अग्नि का तथा चित्र, लिपि, प्रतिबिम्ब, शब्द आदि से गवादि की अभिव्यक्ति।

असद्विषयक अभिव्यक्ति एक प्रकार की ही है जैसे सूर्य के प्रकाश से इन्द्रचाप की अभिव्यक्ति।

व्यक्तिविवेककार ने इन सभी अभिव्यक्तियों का खण्डन किया है जैसा कि अग्र लिखित है—

सद् विषयक प्रथम तथा द्वितीय अभिव्यक्ति (लक्षण) का खण्डन :- यदि वाच्य से प्रतीयमान की अभिव्यक्ति परिणति रूप मानी जाय तो जैसे दूध से परिणत दधि आँखों से देखा जाता है वैसे ही वाच्य से अभिव्यक्त प्रतीयमानार्थ भी देखा जाना चाहिए, परन्तु ऐसा नहीं होता है। यदि वाच्य से प्रतीयमान की प्रकाशन या ज्ञप्ति रूप अभिव्यक्ति स्वीकृत की जाय तो जैसे प्रकाशित दीपक के साथ ही घट की प्रतीति होती है, पौर्वापर्यक्रम नहीं रहता वैसे ही वाच्य तथा प्रतीयमान की प्रतीति होनी चाहिए। परन्तु वाच्यपूर्विका प्रतीयमानार्थ की प्रतीति है। अतः ज्ञप्ति रूप अभिव्यक्ति भी नहीं मानी जा सकती है। इस तथ्य को महिमभट्ट प्रस्तुत करते हैं- "सतोऽभिव्यक्तेर्यद्वा यो ऽस्ति योर्लक्षणं न तत्प्रतीयमानेऽवेकमपि संस्प्रष्टुं क्षमते तस्य दद्याऽऽदेरिवेन्द्रियविषयभावापत्तिप्रसङ्गाद् घटादेरिव वाच्यार्थ सहभावेनैवास्य प्रतीतेरसम्भवात्।" (व्यक्ति विवेक)

इसप्रकार दोनों अभिव्यक्तियों के लक्षण युक्तिसंगत नहीं हैं।

लक्षण

सद्विषयक तृतीय अभिव्यक्ति का खण्डन :– सद्विषयक अभिव्यक्ति का तृतीय प्रकार अनुमान का ही विषय है वह व्यक्ति में संगत नहीं होता है– "तृतीयास्तु यल्लक्षणं तदनुमानस्यैव सङ्गच्छते, न व्यक्तेः।" त्रिरूप लिङ्ग से अनुमेय विषयक ज्ञान ही अनुमान है– "त्रिरूपाल्लिङ्गाद्यदनुमेये ज्ञानं तदनुमानमिति।" वाच्य से प्रतीयमान की जो प्रतीति होती है वह अनुमान के द्वारा ही होती है क्योंकि एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ की प्रतीति अनुमान के अतिरिक्त और किसी तत्त्व से नहीं हो सकती है– "न ह्यर्थादर्थान्तरप्रतीतिरनुमानमन्तरेणार्थान्तरमुपपद्यते।" (व्यक्ति विवेक)
वाच्यार्थ से प्रतीयमानार्थ की प्रतीति अविनाभाव सम्बन्ध के बिना नहीं हो सकती नहीं तो सभी वाच्यों से सभी अन्य प्रकार के अर्थों की प्रतीति होने लगेगी– "न च वाच्यादर्थादर्थान्तर प्रतीतिरविनाभावसम्बन्धस्मरणमन्तरेणैव सम्भवति, सर्वस्यापि तत्प्रतीति प्रसङ्गात्।" (महिमभट्ट)
वाच्य प्रतीयमान में क्रमभाव है अतः लक्षण में असम्भव दोष भी आता है। यदि रस आदि को लेकर वाच्य तथा प्रतीयमान की प्रतीति साथ-2 मान ली जाय तो लक्षण में अव्याप्ति दोष आता है क्योंकि वस्तु तथा अलंकार की अभिव्यक्ति वैसी नहीं होती अतः अभिव्यक्ति का लक्षण उचित नहीं है।

असद्विषयक अभिव्यक्ति को भी मानना आवश्यक है। यदि व्यक्तिवादी असद् अभिव्यक्ति का ग्रहण न करें तो भी अव्याप्ति दोष होता है।
यदि सद् असद् दोनों का ग्रहण न किया जाय तो व्यक्ति के लिए बनाया गया लक्षण अनुमान में ही पर्यवसित हो जायेगा – "अथोभयोरपि ग्रहणं न करिष्यत इति तर्ह्यनुमानस्यैव तल्लक्षणं पर्यवस्यति, न व्यक्तेः।"
इस प्रकार यहाँ व्यक्ति का लक्षण उचित न होने के कारण व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव सम्भव ही नहीं है। अतः साध्यसाधनभाव या लिंग लिंगी भाव, गम्यगमक भाव अथवा कार्यकारण भाव मानकर व्यक्ति के लक्षण को अनुमान में ही पर्यवसित करना चाहिए। यही महिम भट्ट को अभीष्ट है।

---

६. "यद्यर्थ इति वाच्योऽर्थोऽभिमतोऽव्याप्तिरेव सा।
येनैवंवादिनीत्यादावर्थस्यार्थान्तराद्गतिः॥"

प्रसंग :– महिमभट्ट ने ध्वनिकार की कारिका 'योऽर्थः सहृदयश्लाघ्यः काव्यात्मेति व्यवस्थितः। वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ॥' इसमें जो सहृदयश्लाघ्य अर्थ का कथन किया गया है, वह वाच्य अर्थ है अथवा प्रतीयमान अर्थ है या दोनों हैं। इस सम्बन्ध में उक्त कारिका कही है।

व्याख्या :– ध्वनिकार की कारिका में यदि अर्थ का तात्पर्य वाच्य से मान लिया जाय जैसा कि आनन्दवर्धन ने 'अर्थो वाच्यविशेषः' अर्थ

पद की व्याख्या की है। इसप्रकार मानने पर वाच्यार्थ ही व्यञ्जक हो सकेगा, जबकि वाच्य से प्रतीयमान अर्थ भी व्यञ्जक होता है तथा वह अर्थ भी ध्वनि माना जाता है अतः तब ध्वनि लक्षण में अव्याप्ति दोष होगा। इसे उदाहरण के द्वारा प्रकट करते हैं— "एवंवादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी।
लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती ॥"
उपर्युक्त उदाहरण में वाच्य अर्थ से अवहित्था या लज्जा की प्रतीति होती है और इस लज्जा से शिव के प्रति पार्वती की रति की प्रतीति होती है। यदि वाच्य रूपी व्यंजक तक ही ध्वनित्व सीमित रहेगा, तो लज्जा आदि अर्थ जो व्यञ्जक हैं उनमें ध्वनि का लक्षण घटित नहीं होगा अतः यह अव्याप्ति दोष होगा।
यदि उभयार्थ विषयक अर्थात् अर्थ शब्द का वाच्य तथा प्रतीयमान दोनों मान लिया जाय तो दो तीन वस्तुयानों से अन्तरित अर्थ की प्रतीति वाले काव्य जो प्रहेलिका-प्राय हैं उनमें भी ध्वनित्व हो जायेगा, अतः अतिव्याप्ति दोष हो जायेगा। जैसा व्यक्ति विवेक कार ने लिखा है— "अर्थोऽपि तद्गतिव्याप्तिर्द्वित्रवस्तुव्यवायिनि।
प्रहेलिकादिरूपेऽपि काव्ये ध्वन्यात्मता यतः ॥"
अनुमितिवादी महिमभट्ट का विचार है कि चमत्कार उस व्यङ्ग्य में रहता है जो वाच्य से बिना किसी वस्त्वन्तर प्रतीति के व्यवधान के प्रतीत होता है या केवल व्यभिचारी भाव अथवा अलंकार का व्यवधान हो। दो तीन वस्तुयानों से व्यवहित अर्थ (व्यङ्ग्य) प्रहेलिका रूप ही होता है जैसे तीन वस्तुओं से अन्तरित अनुमेयार्थ (व्यङ्ग्यार्थ) का उदाहरण देते हैं— "विपरीतसुरतसमये ब्रह्माणं दृष्ट्वा नाभिकमलस्थम्।
हरेर्दक्षिणनयनं चुम्बति ह्रियाकुला लक्ष्मीः॥"
यहाँ विष्णु के दक्षिण नेत्र रूप सूर्य के चुम्बन से सूर्यास्त की प्रतीति, सूर्यास्त से नाभिकमल का संकोच, नाभिकमल के संकोच से ब्रह्मा के दर्शन का व्यवधान। इसप्रकार तीन वस्तुयानों से अन्तरित अनुमेयार्थ (व्यङ्ग्य) की प्रतीति होती है अतः ये एक के बाद एक इस उपाय परम्परा से ये सामाजिक के मस्तिष्क में चढ़ नहीं सकते, अतः रसास्वाद कराने में असमर्थ ये प्रहेलिका रूप ही हैं—
"तदियमुपायपरम्परोपारोहनिस्सहा रसास्वादान्तिकमुपगन्तुमलमिति प्रहेलिकाप्रायमेतत् काव्यम्।" (व्यक्ति विवेक)
यहाँ 'अर्थ' शब्द का तात्पर्य अर्थ सामान्य है परन्तु ध्वनिकार ने काव्यात्मा के रूप में जो स्वीकार किया है वह ठीक नहीं है। क्योंकि काव्यात्मा संज्ञा प्रतीयमा[न] अर्थ की ही हो सकती है। ध्वनिकार ने इसे स्वयं स्वीकार किया है— 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः', 'काव्यस्यात्मा स एवार्थः', 'प्रतीयमाना लावण्यमिवाङ्गनासु ... लज्जेव योषिताम्।" इत्यादि स्थलों पर। व्यक्तिविवेककार ने ध्वनिकार की इस कारिका में संशोधन

करके बताया है कि इसका स्वरूप यह होना चाहिए -

"अर्थः सहृदयश्लाघ्यो यः काव्यस्य व्यवस्थितः।
वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ॥"

इसप्रकार अर्थ का काव्यात्मत्व न कहने के कारण उक्तदोष नहीं हो सकते हैं।

6. शब्दस्य च विशेषणमनुपादेयमेव स्याद् अर्थस्य विशिष्टत्वेनैव तदवगतिसिद्धेः।"

प्रसङ्ग:- व्यक्तिविवेककार ने यह पंक्ति 'यत्रार्थः शब्दो वा' इत्यादि कारिका में 'वा' का प्रयोग न विकल्पार्थक है और न समुच्चयार्थक है, इस प्रसंग में उद्धृत की है।

व्याख्या:- ध्वनिलक्षण कारिका में 'वा' का प्रयोग विकल्पार्थक मानने पर 'व्यङ्क्तः' ऐसे द्विवचन की संगति नहीं बैठती है। 'वा' को समुच्चयार्थक मानने पर शब्द तथा अर्थ दोनों में ध्वनित्व होना चाहिए यह मानना पड़ता है जो कि उचित नहीं है- "समुच्चयार्थत्वे पुनः शब्दार्थयोरेकैकस्य व्यंजकत्वं तत्र ध्वनित्वमिष्टं न स्यात्।" (व्यक्तिविवेक)
क्योंकि शब्द का अभिधा के अतिरिक्त और कोई व्यापार नहीं होता है। इसीलिए जो शब्द का उपसर्जनीकृतार्थत्व विशेषण है वह भी अनुपादेय है। उसकी प्रतीति अर्थ के विशेषण उपसर्जनीकृतात्मत्व से ही हो जाती है। अनुमितिवादी ने अन्यत्र भी इसका खण्डन किया है- "वाचो गुणीकृतार्थत्वं न समर्थयितुमुचितं" यदि ध्वनिकार को शब्द का उपसर्जनीकृतार्थत्व स्वीकार है तो गुणीकृतात्मा अभिधा का भी ध्वनिलक्षण में उपादान करना चाहिए। परन्तु दीपक आदि अलंकार में उपमा व्यंग्य होती है उसमें ध्वनित्व मानते हुए भी गुणीकृतात्मा अभिधा का ग्रहण ध्वनिकार ने नहीं किया है क्योंकि अभिधा के आश्रित अर्थ होता है और अर्थ के आश्रित अलंकार होते हैं- "लक्षणवाक्ये दीपकाद्यलङ्कारमुखेनोपमाद्यभिव्यक्तौ ध्वनित्वमिच्छता गुणीकृतात्मनोऽभिधाया उपादानं न कृतम्। अन्यथा तदपि कर्त्तव्यं स्यात्। तदाश्रितत्वादर्थस्यार्थाश्रितत्वाच्चालङ्काराणाम्।" (व्यक्तिविवेक)

इसप्रकार 'वा' शब्द को लेकर यदि समुच्चयार्थक मानते हैं तो अभिधा शक्ति के गुणीकृतात्मत्व ध्वनिलक्षण में उपादेय होता है जो कि ठीक नहीं है। अतः 'वा' शब्द न विकल्पार्थक है और न समुच्चयार्थक। निरर्थक ही है।

विशेष:- अभिनवगुप्त ने 'लोचन टीका' में 'व्यङ्क्तः' द्विवचन की सिद्धि के लिए 'वा' शब्द को समुच्चयार्थक तथा विकल्पार्थक माना है और यह कहा कि शब्द के व्यंजकत्व में अर्थ की सहकारिता तथा अर्थ के व्यञ्जकत्व में शब्द की

नहीं बनता है। यदि दूसरे व्यापार माने भी जायें तो अर्थ के व्यापार हो सकते हैं शब्द के नहीं। जैसा कि लिखा है– "अलोच्यते ऽभिधासंज्ञ: शब्दस्यार्थप्रकाशने। व्यापार एक एवेष्टो यस्त्वन्योऽर्थस्य सोऽखिल:।"

(व्यक्ति) व्यक्ति या सम्बन्धान्तर अथवा अभिधातिरिक्त व्यापार के अभाव होने पर भी यदि शब्द में एक नवीन व्यञ्जकत्व की स्वीकृति कर ली जाय, तो नियत अर्थ की प्रतीति रूप नियम अर्थ में नहीं रहेगा। अभिधा में संकेतग्रह जैसे माना जाता है वैसे ही इस नवीन व्यञ्जकत्व में कोई नियत अर्थ को प्रतीत कराने वाला निबन्धन रूप कारण होना चाहिए, परन्तु उसका अभाव रहता है। गेय का जैसे रत्यादि भावों के साथ स्वाभाविक सम्बन्ध रहता है, परन्तु यहाँ कोई ऐसा सम्बन्ध भी नहीं है क्योंकि इस प्रकार से तो सभी शब्दों से उस दूसरे अर्थ की प्रतीति होने लगेगी– "न ह्यस्य गेयस्येव रत्यादिभिर्भावै: स्वाभाविक एव सम्बन्ध: सर्वस्यैव तत्प्रतीतिप्रसङ्गात्।" (व्यक्तिविवेक)

यदि व्यञ्जकत्व में भी संकेतग्रह मान लिया जाय, तब भी दोष होता है क्योंकि व्यञ्जकत्व उपाधिजनित होता है और 'संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता। अर्थ: प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधि:।' (वाक्यपदीयम्) आदि में उक्त प्रयोजन, प्रकरण आदि अनियत तथा अनन्त होने के कारण पद-पद पर संकेतग्रह भी नहीं हो सकता है।

इस प्रकार यह निश्चित हो जाता है कि शब्द का एक अभिधा व्यापार ही मानना चाहिए।

---

१०. तदेवं विशेषणविशेष्यस्वरूपेऽवसिते यदेतदन्तरङ्गं विशेषणमुक्तं तद् गवादौ गोत्वादिवद् विशेष्यस्वरूपान्तर्भूतमिवेति तत्प्रतीत्योराशुभावितया क्रमानुपलक्षणात् सहभावावगमो द्योत्यद्योतकभावभ्रमहेतु:।"

__प्रसङ्ग__:– विशेषणविशेष्यभाव की प्रतीति के सम्बन्ध में विशेषण को दो प्रकार का बताया गया है (i) अन्तरङ्ग (ii) बहिरङ्ग। प्रस्तुत पंक्तियों में अन्तरङ्ग विशेषण के सम्बन्ध में बताया गया है।

__व्याख्या__:– महिमभट्ट ने अन्तरंग विशेषण के लिए कहा है कि अन्तरङ्ग विशेषण अव्यवहित रहकर ही काम सिद्ध करते हैं अर्थात् अर्थ की प्रतीति कराते हैं जैसे लाक्षादि स्फटिक आदि के साथ। – "तत्राद्यमव्यवहितमेवार्थकारि लाक्षादि स्फटिकादे:।" बहिरङ्ग विशेषण उन्हें कहते हैं जो पास में ही नहीं अपितु दूर रहकर भी विशेष्य में विशेष्यता उत्पन्न करते हैं। जैसे अयस्कान्त (चुम्बक) जो दूर रहते हुए भी लोहे में अपनी शक्ति का प्रभाव डाल देता है।

इसीप्रकार ... ग्रामनगम' में प्रकटयति' ऐसा अर्थ प्रतीति कराने हेतु अर्थापत्ति प्रमाण मानना पड़ेगा। परन्तु अर्थापत्ति प्रमाणका भी अनुमानमें ही अन्तर्भाव हो जाता है। न्यायशास्त्र में अर्थापत्ति को अनुमानमें अन्तर्भूत कर दिया गया है।

इसतरह हम देखते हैं कि लक्षणा शब्द की कोई वृत्ति नहीं हो सकती है लक्ष्यार्थ पाने के लिए अनुमान से ही काम चल जाता है। क्योंकि शब्द की अभिधा के अतिरिक्त और कोई शक्ति नहीं है अतः गुणवृत्ति (लक्षणा) शब्द में सम्भव नहीं है। यह बात महिम भट्ट ने इस कारिका में कही है–

"तस्मात् स्वार्थातिरेकेण गतिर्नार्थान्तरे गिराम्।
वाचकत्वाश्रयेणातो गुणवृत्तेरसम्भवः॥"

अतः जिस शब्द ने अभिधा के अर्थ का कथन कर दिया है उसका व्युत्पत्ति तथा शक्ति के द्वारा किया गया प्रयोग अनुमान के द्वारा जानना चाहिए। निष्कर्ष यह है कि लक्षणा भी अनुमान का ही विषय है।

विशेष :– मीमांसकों ने अर्थापत्ति नामक एक प्रमाण माना है। अर्थापत्ति का उदाहरण है– 'पीनो देवदत्तः दिवा न भुङ्क्ते।' 'देवदत्त मोटा भी है किन्तु दिन में नहीं खाता है,'– इस वाक्य का अर्थ सम्यक् परिलक्षित नहीं होता है अतः 'रात्रि में भोजन करता है' यह मानना पड़ता है। यही अर्थापत्ति प्रमाण है। नैयायिकों ने अर्थापत्ति को अनुमान में अन्तर्भूत किया है। दिवा में भोजन न करने पर भी पीनत्व का होना, रात्रि में भोजन करने का अनुमान करा देता है। यहाँ पीनत्व लिंग हो जाता है। नैयायिकों ने लिखा भी है– "देवदत्तः रात्रि-भोजनकर्तृत्वावच्छिन्नः दिवा न भुञ्जानत्वे सति पीनत्वात्।" अतः अर्थापत्ति भी अनुमान से भिन्न नहीं है।

पृ: "नापि शब्दस्याभिधाव्यतिरेकेण व्यञ्जकत्वं व्यापारान्तरमुपपद्यते, येनार्थान्तरं प्रत्यायपेद्, व्यक्तेरनुपपत्तेः सम्बन्धान्तरस्य चासिद्धेः। तदभावेऽपि तदभ्युपगमे तस्यार्थनियमो न स्याद् निबन्धनाभावात्।"

प्रसङ्ग :– शब्द में अभिधा के अतिरिक्त व्यञ्जकत्व आदि अन्य कोई व्यापार नहीं माना जा सकता है। अभिधा में संकेत ग्रह के द्वारा अभिधेय अर्थ होता है। शब्द का अन्य कोई व्यापार मानने पर जिस किसी शब्द से जिस किसी अर्थ की प्रतीति हो जायेगी, तो किसी शब्द का महत्व ही नहीं रहेगा। इसी कथन को अनुमितिवादी ने इन पंक्तियों में बताया है।

व्याख्या :– शब्द की एकमात्र वृत्ति अभिधा ही है, इसके अतिरिक्त व्यञ्जकत्व रूप दूसरा व्यापार नहीं बन पाता है, जिससे दूसरे अर्थ की प्रतिपत्ति

सहकारिता होती है। व्यक्तिविवेककार के अनुसार यह कथन असंगत है क्योंकि शब्द तथा अर्थ की सहकारिता तब सम्भव है वाच्य (अर्थ) तथा वाचक (शब्द) की प्रतीति एक साथ हो। परन्तु ऐसा नहीं होता पहले शब्द की प्रतीति होती है तदुपरान्त अर्थ की। अतः दोनों में क्रमभाव होने से दोनों की सहकारिता सम्भव ही नहीं है।

६· "तस्माद् व्युत्पत्तिशक्तिभ्यां निबन्धो यः स्खलद्गतेः।
शब्दस्य सोऽपि विज्ञेयोऽनुमानविषयोऽन्यवत्॥"

प्रसंग :- महिमभट्ट ने प्रस्तुत कारिका में यह बताया है कि लक्षणा भी अनुमान का ही विषय है। लक्षणा शब्द का व्यापार नहीं हो सकती क्योंकि शब्द का व्यापार तो अभिधा ही है। शब्द अपनी अभिधा शक्ति से वाच्यार्थ को बताकर अपने व्यापार को समाप्त कर लेता है। अतः लक्षणा अनुमान से ही ज्ञात होती है।

व्याख्या :- ध्वनिवादी तथा अन्य आचार्यों ने शब्द की एक शक्ति लक्षणा भी स्वीकार की है। परन्तु व्यक्तिविवेककार को यह अभिमत नहीं है। वे शब्द की शक्ति केवल अभिधा को ही मानते हैं। क्योंकि शब्द केवल अपने वाच्यार्थ तक ही सीमित रहती है। अभिधा के विषय में कहा गया है- "विशेष्यं नाभिधा गच्छेत् क्षीणशक्तिर्विशेषणे" अर्थात् अभिधा विशेषण का ज्ञान कराने के बाद शान्त हो जाती है अतः विशेष्य का ज्ञान उसी अभिधा से नहीं हो सकता है। नैयायिकों का यह भी मत है कि शब्द, ज्ञान, कर्म (क्रिया, व्यापार) के समाप्त (शान्त) हो जाने पर कोई दूसरा व्यापार नहीं होता है। जैसा कि लिखा है- "शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभावः।" इस प्रकार शब्द का व्यापार (गौण या प्रधान) लक्षणा नहीं हो सकती है। अतः अनुमान के द्वारा ही लक्षणा द्वारा प्राप्त अर्थ पाया जा सकता है। लक्षणावादियों ने लक्षणा की सिद्धि हेतु मुख्यार्थबाध आवश्यक बताया है। उदाहरण के लिए 'गंगायांघोषः' में गंगा में घोष सम्भव नहीं है। अतः मुख्यार्थ का बाध हुआ अब जो सामग्री शब्दों की गुणवृत्ति (लक्षणा) में कारण रूप से मान्य है उसे हम अर्थान्तर के प्रति लिंग रूप से स्वीकार करते हैं जैसा कि महिमभट्ट लिखते हैं "गुणवृत्तौ गिरां यावत् सामग्रीष्टा निबन्धनम्।
सैव लिङ्गतयाऽस्माभिरिष्यतेऽर्थान्तरं प्रति॥" (व्यक्ति॰)
'गंगायां घोषः' में गंगा की धारा में घोष का अभाव रूप हेतु (लिंग) ही सामीप्य आदि सम्बन्ध से गंगातट घोषः इसका अनुमान कराता है। इसी प्रकार 'गौर्वाहीकः' में भी गोत्व के आरोप से वाहीक में उसके साम्य का अनुमान किया जाता है- "गोत्वारोपेण वाहीके तत्साम्यमनुमीयते।" (व्यक्तिवि॰) इस स्थल में अनुमान का रूप यह होगा- "वाहीको गोसाधर्म्यवान्, भिन्नत्वे सत्यपि गोत्वेन व्यपदिश्यमानत्वात्।"

विशेष्य भी दो प्रकार के होते हैं - धात्वर्थ, नामार्थ। जैसा कि महिमभट्ट ने लिखा है - "विशेष्योऽपि द्विविधो धात्वर्थो नामार्थश्चेति।" उपसर्ग जो प्रादि हैं वे प्रायः धात्वर्थ ही होते हैं, नामार्थ नहीं। 'च' आदि निपात धात्वर्थ तथा नामार्थ दोनों होते हैं - "तत्रोपसर्गाणां प्रायो धात्वर्थो विशेष्यो न नामार्थः। चादीनां तु निपातानामुभयमपि।" (व्यक्तिविवेककार)

इसप्रकार विशेषण तथा विशेष्य के स्वरूप का निर्णय करने के बाद अन्तरङ्ग विशेषण के बारे में बतलाते हैं कि अन्तरङ्ग विशेषण अपने विशेष्य स्वरूप में विलीन सा रहता है जैसे गो द्रव्य में गोत्व जाति विलीन रहती है। इसप्रकार विशेषण तथा विशेष्य की प्रतीति अतिशीघ्र होजाने के कारण उनमें क्रम लक्षित नहीं होता है। अतः उनमें सहभाव का ज्ञान द्योत्य द्योतकभाव के भ्रम का कारण है। यह बात कारिका के रूप में भी कही गयी है - "यदन्तरङ्गमुद्दिष्टमुभयात्मा विशेषणम्।

विशेष्ये मग्नमिव तद् गवि गोत्वमिव स्थितम्॥

अत एवाशुभावित्वात् तत्प्रतीत्योः क्रमाग्रहः।

यन्मूलश्चायमनयोर्द्योत्यद्योतकताभ्रमः॥"

(व्यक्तिविवेक)

इसीलिए कुछ लोग निपात आदि बहिरंग विशेषणों का धातु में अन्तर्भाव मानते हुए कहते हैं कि धातु तथा उपसर्ग के भिन्न रूप होने की कल्पना अट् आदि की व्यवस्था के लिए है वास्तव में वह पूरा धातु का ही रूप होता है जैसा कि 'भर्तृहरि' ने लिखा है - "अडादीनां व्यवस्थार्थं पृथक्त्वेन प्रकल्पनम्। धातूपसर्गयोः शास्त्रे धातुरेव च तादृश"

संस्कृत भाषा की व्याकरण में लङ् लकार, लुङ् लकार तथा लृङ् लकार में अट् अथवा 'आट्' का आगम होता है। ये आगम हमेशा उपसर्ग के बाद तथा क्रिया के पहले जोड़े जाते हैं। इसीलिए यह व्यवस्था है कि उपसर्ग धातु से अलग गिने जाते हैं। अर्थ की दृष्टि से धातु तथा उपसर्ग एक ही हैं। कहीं-कहीं उपसर्ग के पूर्व 'अट्' आदि का विधान है जैसे - 'असंग्रामयत' में सम् उपसर्ग के पूर्व अट् आगम हुआ है।

'च' आदि जो निपात हैं वे दूर होने पर अपने अभीष्ट अर्थ में व्यवधान उत्पन्न करते हैं और किसी अन्य अर्थ को ही प्रकट कर देते हैं जो अनभीष्ट होता है, अतः अर्थ में असामञ्जस्य उत्पन्न होने पर अनौचित्य दोष होता है "अनौचित्यादृते नान्यद् रसभङ्गस्य कारणम्।" इसके अनुसार अनौचित्य होने से रस भंग हो जाता है अतः रसास्वाद में भी विघ्न उपस्थित होता है।

इसप्रकार उपसर्ग निपात आदि का भी अलग अर्थ होता है तथा उनमें स्व

रूप से अपनी शक्ति होती है। उन्हें द्योतक मानना एक प्रकार का भ्रम ही है।

११. "स्वाभाविकं ध्वनेर्युक्तं व्यञ्जकत्वं न दीपवत्। धूमवत् किन्तु कृतकं सम्बन्धादेरपेक्षणा
प्रसङ्ग :- शब्द सम्बन्ध विशेष को लेकर व्यञ्जक होता है अतः ध्वनिकार ने जो शब्द की व्यञ्जकता दीप सदृश बतायी है वह उचित नही है क्यो कि दीप स्वाभाविक रूप से व्यञ्जक होता है उसमें कोई सम्बन्ध विशेष नही रहता है शब्द की व्यञ्जकता धूम के समान है। धूम सम्बन्ध विशेष को लेकर वह्नि का ज्ञा कराता है। इसी तथ्य का कारिका में संकेत किया गया है।

व्याख्या :- ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने जो शब्द की व्यञ्जकता के विषय में यह कहा है कि अपने स्वरूप को प्रकाशित करते हुए दूसरे को भी अव भासित करने वाला व्यञ्जक कहा गया है जैसे घट आदि का व्यञ्जक प्रदीप होता है- "स्वरूपं प्रकाशयन्नेव परार्थावभासनो व्यञ्जक इत्युच्यते यथा प्रदीपो घटो (ध्वन्यालो इस कथन का खण्डन महिम भट्ट ने किया है कि वास्तव में व्यञ्जकत्व तो दीप आदि में ही रहता है, परन्तु जो शब्द के व्यञ्जकत्व को दीप के सदृश बता यह युक्तियुक्त नही है क्यों कि शब्द में सम्बन्ध विशेष होने के कारण व्यञ्ज त्व माना जाता है। यह सम्बन्ध विशेष वाच्यवाचकभाव सम्बन्ध कहा जाता है। शब्द का व्यञ्जकत्व वाच्यवाचकभाव (अभिधा) पर निर्भर रहकर होता है। वाचकत्व (अभिधा) शब्दों की नियत वस्तु है क्योंकि संकेत ज्ञान के समय से लेकर वाचक की संकेत ज्ञान के विना प्रवृत्ति नहीं होती है- "वाचकत्वं हि शब्दविशेषस्य नियत आत्मा, सङ्केतव्युत्पत्तिकालादारभ्य तदविनाभावेन तस्य प्रसिद्धत्वात्।" (व्य शब्द का व्यञ्जकत्व अनियत है क्यों कि वह औपाधिक है, प्रकरण आदि के निश्च होने से उसकी प्रतीति होती है, अन्यथा नहीं होती है- "स त्वनियत औपाधि त्वात् प्रकरणाद्यवच्छेदेन तस्य प्रतीतेरितरथा त्वप्रतीतिरिति।" (व्यक्तिवि इस प्रकार शब्द तथा प्रतीयमान (व्यंग्य) अर्थ का अन्य कोई सम्बन्ध नही हो सकता है अतः सामग्री अर्थात् प्रकरण आदि में सम्बन्ध के द्वारा व्यङ्ग्य अर्थ की गमकता उचित है, शब्द की नहीं हो सकती- "न चानयोरन्यः सम्बन्धः सम्भवति तस्याः सामग्र्याः एव सम्बन्धबलात् तद्गमकत्वमुपपन्नम् न शब्दस्येति।" (व्यक्ति वि०)

इसीलिए शब्द की व्यञ्जकता धूम आदि के समान कृतक (कृत्रिम) ही होती है। धूम में भी एक सम्बन्ध विशेष होता है उसे साहचर्य सम्बन्ध कहते हैं। इस सम्बन्ध के द्वारा धूम अग्नि का ज्ञापक होता है- यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र वह्नि जो सच्चे व्यञ्जक होते हैं वे सम्बंध की अपेक्षा नही रखते हैं जैसे दीपक। यद

सम्बन्ध विशेष को लेकर व्यञ्जक होता है उसमें कृत्रिमता होती है। शब्द भी इसी प्रकार कृत्रिम व्यञ्जक होता है।
महिमभट्ट ने यहाँ धूम का उदाहरण इसलिए दिया है कि शब्द के प्रतीयमान अर्थ को ध्वनि अथवा व्यङ्ग्य न माना जाय, अपितु अनुमेय ही कहा जाय। जैसे धूम से अग्नि का अनुमान किया जाता है वैसे शब्द अर्थात् वाच्य अर्थ से प्रतीयमान अर्थ का अनुमान किया जाता है। क्यों कि शब्द का अभिधा के अतिरिक्त दूसरा कोई व्यापार नहीं होता है।

12. इत्थञ्च गम्यमानार्थस्पर्शमात्रमलङ्कृतिः।
वाच्यस्येत्येतदुक्तं स्यान्मता सैवानुमा ततः॥"

प्रसङ्ग: — प्रतीयमान अर्थ से युक्त काव्य ही काव्य कहा जाता है। प्रतीयमानार्थ की प्रतीति अनुमान से ही होती है। प्रतीयमान अर्थ से वाच्यार्थ अलंकृत हो जाता है। इसी तथ्य का प्रकाशन इस कारिका में किया गया है।

व्याख्या: — गम्यमान अर्थात् अनुमेय अर्थ का स्पर्श ही वाच्य अर्थ को अलंकृत करता है। इस प्रकार महिमभट्ट ने उस शोभा को जो अनुमेय अर्थरूप है उसे अनुमिति रूप से मानते हैं। ध्वनिकार ने वहीं ध्वनि मानी है जहाँ व्यङ्ग्यार्थ की प्रधानता हो। जहाँ व्यङ्ग्यार्थ अप्रधान होता है वहाँ गुणीभूत व्यङ्ग्य होता है। परन्तु महिमभट्ट गुणीभूत व्यङ्ग्य को नहीं मानते हैं। इनका मत है कि जहाँपर प्रतीयमान अर्थ (अनुमेयार्थ) हो, वहाँ काव्य में चमत्कार होता है — "अनुमेयार्थसंस्पर्श एव काव्यस्य चारुत्वहेतुरित्यवगन्तव्यम्।" (व्यक्तिविवेक)
व्यक्तिविवेककार ने इस कथन को सिद्ध करने के लिए आनन्दवर्धन का ग्रन्थ भी उद्धृत किया है — "सर्वथा नास्त्येव हृदयहारिणः काव्यस्य स प्रकारः, यत्र प्रतीयमानार्थसंस्पर्शेन न सौभाग्यम्।" (ध्वन्यालोकः)
वाच्य से प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति होती है अतः वाच्यार्थ तथा प्रतीयमानार्थ में क्रम भाव है। क्रम भाव होने से अनुमान प्रयोग हो जाता है। महिमभट्ट सारी ध्वनियों (अविवक्षितवाच्य तथा विवक्षितान्यपरवाच्य तथा इनके भेदप्रभेदों) का अन्तर्भाव अनुमान में ही कर देते हैं। ध्वनिकार ने जो 'यत्रार्थः शब्दो वा' आदि ध्वनिलक्षण की कारिका लिखी है, उसमें व्यक्तिविवेककार ने दश दोष दिखाकर ध्वनि का सर्वथा खण्डन कर दिया है।
इस प्रकार 'काव्य की आत्मा ध्वनि है' अथवा 'काव्य का चमत्कार ध्वनि है' इस कथन को नहीं माना जा सकता है क्योंकि ध्वनि नामक कोई अन्य वस्तु नहीं है। प्रतीयमानार्थ जो काव्य का चमत्कार है, उसकी प्रतीति अनुमान से ही हो जाती है।

घूम रही है क्योंकि वह अपने पति से पूर्णस्नेह प्राप्त कर चुकी है। निरन्तर सम्भोग सुख के मद से उसके पति की अन्य किसी वन्य पशु का शिकार करने की इच्छा नहीं होती है। यदि कहीं कोई मयूर निकट आ जाता है तो वह अपनी प्रिया के शृंगार के लिए उसी मयूर को मार देता है और वह प्रिया उसी के पंख का कर्ण पूर पहन लेती है। पहले वह अपनी पत्नियों में उतना आसक्त नहीं था इसीलिए वह मदोन्मत्त गजों का शिकार करके गजमुक्ताएं अपनी प्रियाओं को देता था। अब इस प्रियतमा में वह अत्यधिक आसक्त है, जिससे अन्य पत्नियाँ ईर्ष्या करती हैं। अतः यहाँ व्याध की पत्नी का अन्य सौतों से सौभाग्यातिरेक अनुमेय है — "अत्र हि वक्ष्यमाणप्रकारेण व्याधवध्वाः सपत्नीभ्यः सौभाग्यातिरेकोऽनुमेयः।" यह सौभाग्यातिरेक निरन्तर पति के सम्भोग सुख के मद से केवल मोर को ही मारने की शक्ति से व्यवहित है — स त्वाविरतसम्भोगसुखासङ्ग-निःसहतया पत्युर्मयूरमात्रमारणक्षमतयानुमीयमानयान्तरितः।" (व्यक्तिविवेक)

इसप्रकार यह अनुमेयार्थ एक वस्तु से व्यवहित है। अतः यह काव्य नहीं हुआ, महिमभट्ट के अनुसार यह तो प्रहेलिकाप्राय है क्योंकि उनकी परम्पराओं से यह ज्ञात होता है और तभी इसका अनुमान किया जाता है।

ध्वनिवादियों के अनुसार यहाँ ध्वनिकाव्य है। ध्वन्यालोक के द्वितीय उद्योत में यह पद्य उदाहृत है। इसकी व्याख्या करते हुए अभिनवगुप्त ने लिखा है कि व्याधवधू में आसक्त होने का रूप मयूरमारणमात्र है तथा अन्य सपत्नियों में आसक्त व्याध ने हाथियों को भी मारा, इसप्रकार के कथन से व्याधवधू का उत्तमसौभाग्य व्यङ्ग्य है — "शिखिमात्रमारणमेव तदासक्तस्य कृत्यम्। अन्यासु त्वासक्तो हस्तिनोऽप्यमारयदिति हि वचनेनोक्तमुत्तमसौभाग्यम्।" (लोचनटीका)

अतः ध्वनिवादी के अनुसार यहाँ व्यंग्य है।

"वाणिअअ हत्थिदन्ता कत्तो अह्माण वग्घकित्ती अ।
जावलुलिआलअमुही घरम्मि परिसक्कए सोह्ना॥"

प्रसंग :- दो वस्तुमात्र से अन्तरित प्रतीयमानार्थ का उदाहरण महिमभट्ट ने प्रस्तुत प्राकृत-गाथा उद्धृत की है।

संस्कृतच्छाया तथा हिन्दी अर्थ :- "वाणिजक! हस्तिदन्ताः कुतोऽस्माकं व्याघ्रकृत्तिश्च।
यावल्लुलितालकमुखी गृहे परिष्वक्कते स्नुषा॥

वणिक! हमारे यहाँ हाथीदांत तथा बाघ की खाल अब कहाँ है जब से मुँह पर ताले

ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने कहा है कि यहाँ लीलाकमलपत्र का गिनना अपने स्वरूप को गौण करके बिना किसी शब्दव्यापार के व्यभिचारी भावरूप अर्थान्तर को प्रकाशित करता है। यह असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि नहीं है– "अत्र हि लीलाकमलपत्रगणनमुपसर्जनीकृतस्वरूपं शब्दव्यापारं विनैवार्थान्तरं व्यभिचारिभावलक्षणं प्रकाशयति। न चायमलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्यैव ध्वनेर्विषयः।" (ध्वन्यालोक द्वितीय उ०)

अभिनवगुप्त ने यहाँ यह माना है कि इस श्लोक में रस तो दूर से ही व्यभिचारी के स्वरूप की पर्यालोचना करने पर शोभित होता है अतः उसकी अपेक्षा यहाँ असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य ध्वनि मानी जायेगी तथा लज्जा की अपेक्षा संलक्ष्यक्रम (संलक्ष्यक्रम) व्यङ्ग्य ध्वनि ही है– "रसस्तत्रापि दूरत एव व्यभिचारिस्वरूपे पर्यालोच्यमाने भातीति तदपेक्षया अलक्ष्यक्रमतैव। लज्जापेक्षया तु तत्र लक्ष्यक्रमत्वम्।" (लोचन टीका ध्व० द्वि० उ०)

इस प्रकार ध्वनिवादी के अनुसार यहाँ ध्वनिकाव्य है।

विशेष :– 'एवं वादिनि देवर्षौ' में 'देवर्षि' पद अंगिरा के लिए प्रयुक्त हुआ है परन्तु पण्डितराज ने 'रसगंगाधर' में 'नारदकृतविवाहादिप्रसङ्गविज्ञानोत्तरम्' आदि कहते हुए 'देवर्षि' पद को नारद का परामर्शक माना है। जो 'कुमारसम्भव' तथा उसपर मल्लिनाथ की टीका के अनुसार असंगत है। अवश्य ही पण्डितराज यहाँ भ्रमित हो गये हैं।

---

3. "सिहिपिञ्छकण्णऊरा बहुआ वाहस्स गव्विरी भमइ।
मुत्ताहलरइअपसाहणाण मज्झे सवत्तीणम्॥"

प्रसंग :– महिमभट्ट ने व्यभिचारी भावों तथा अलंकारों से अन्तरित अनुमेयार्थ में चमत्कार माना है किन्तु जो एक, दो, तीन वस्तुओं से अन्तरित हैं उनमें चमत्कार नहीं होता है, वह तो प्रहेलिका के समान है। इस सम्बन्ध में एक वस्तुमात्र से अन्तरित का यह उदाहरण दिया है–

संस्कृतच्छाया तथा हिन्दी अर्थ :– शिखिपिच्छकर्णपूरा वधूर्व्याधस्य गर्विणी भ्रमति मुक्ताफलरचितप्रसाधनानां मध्ये सपत्नीनाम्॥

'मोतियों से रचित प्रसाधनों वाली सपत्नियों के बीच मोर के पंख का कर्णफूल पहने हुए बहेलिये की वधू गर्व के साथ घूमती है।'

काव्यशास्त्रीय व्याख्या :– व्याध की वधू केवल मोरपंख का कर्णाभरण पहन कर भी बहुमूल्य मुक्ताफलों के प्रसाधन वाली सपत्नियों के मध्य में बहेलिये की वधू गर्व से इसलिए के मध्य गर्व से भ्रमण करती है। सौतों के मध्य में बहेलिये की वधू गर्व से इसलिए

... का अनुमान होता है– " अत्र हुक्तप्रकारेणानुमितकौतु-
कौत्सुक्य प्रहर्ष लज्जादि व्यभिचारिभावान्तरिता गौर्यामभिलाषिक शृङ्गारानगति
अतः यहाँ अनुमेयार्थ अतिरमणीय है जिससे काव्य में चारुत्व आ गया है।

विशेष :– महिमभट्ट ने इस श्लोक में अनुमान के द्वारा वस्तु की प्रतीति की है।
ध्वनिवादी यहाँ उत्तम काव्य मानकर व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति ध्वनि के
माध्यम से करते हैं। पण्डितराज जगन्नाथ के अनुसार यहाँ उत्तमोत्तम काव्य
माना जायेगा।

2. एवंवादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी। लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती॥४

प्रसङ्ग :– महिमभट्ट ने इसका उल्लेख अनुमितानुमेयार्थ की प्रतीति के लिए करते हैं। यह श्लोक श्री महाकवि कालिदास के 'कुमारसम्भव' नामक महाकाव्य से उद्धृत है। पार्वती की कठोर तपस्या से प्रसन्न होकर शिव ने यह पार्वती को वचन दिया कि मैं तुम्हें पत्नी रूप में स्वीकार करूँगा। तदनन्तर लोकरीति के अनुसार कन्या की याचना करने के लिए देवर्षि अंगिरा को हिमाचल के पास भेजा। पार्वती के समक्ष अंगिरा जब उसके विवाह की बात करने लगे, तो वह लज्जित हुई। इसी का प्रस्तुत श्लोक में वर्णन है।

हिन्दी :– देवर्षि अंगिरा के इस प्रकार पार्वती के विवाह सम्बन्धी बात करने पर पिता के पास स्थित पार्वती नीचे मुख करके लीलाकमल के पत्तों को गिनने लगी।

काव्यशास्त्रीय व्याख्या :– देवर्षि अंगिरा के द्वारा पार्वती के विवाह का वृत्तान्त हिमाचल से कहा जाने पर पार्वती नीचे मुख करके हाथ में स्थित लीलाकमल की पंखुड़ियों को गिनने लगती है। यहाँ अंगिरा का बातें तथा पिता का पास होना ये दो विभाव हैं; पार्वती का मुख नीचा करना तथा कमल की पंखुड़ी गिनना ये अनुभाव है। इससे गम्यभूत लज्जा व्यभिचारीभाव का अनुमान होता है। पुनः लज्जा व्यभिचारी भाव से रति का अनुमान होता है। जैसा कि व्यक्तिविवेक व्याख्यानकार रुय्यक ने कहा है– " अत्र लज्जाख्यस्य व्यभिचारिणो देवर्षेः एवंवादित्वं पितुश्च पार्श्ववर्तित्वं कारणत्वेन द्वौ विभावौ। तथाधोमुखत्वं लीलाकमलपत्रगणनं च कार्यत्वेन स्थितौ सा च गम्यभूता लज्जा सहचारित्वाद्रतिं गमयति।
(व्यक्तिविवेकव्याख्यान)

यहाँ भी व्यभिचारी भावों से अन्तरित अनुमेयार्थ है अतः काव्य में चारुता आ गयी है, व्यक्तिविवेककार इसको उत्तम काव्य मानेंगे। पण्डितराज के अनुसार यह उत्तमोत्तम काव्य होगा।

अधोलिखित श्लोकों की काव्यशास्त्रीय व्याख्या करें।—

१. "पत्युः शिरश्चन्द्रकलामनेन स्पृशेति सख्या परिहासपूर्वम्।
सा रञ्जयित्वा चरणौ कृताशीर्माल्येन तां निर्वचनं जघान॥"

__प्रसङ्ग__ :— व्यक्तिविवेककार ने यह उदाहरण अनुमितानुमेयार्थ के लिए दिया है। यह श्लोक कालिदास के 'कुमारसम्भव' महाकाव्य का है। इसमें पार्वती के विवाह के समय सखी के द्वारा पार्वती के चरणों का रञ्जन तथा आशीर्वाद दि[या] गया है।

__हिन्दी अर्थ__ :— सखी ने पार्वती के चरणों में लाक्षारस लगाकर परिहासपूर्वक यह आशीर्वाद दिया कि 'इस चरण से पति के सिर की चन्द्रकला का स[्पर्श] करना', तब पार्वती ने बिना कुछ कहे उसे माला से प्रहार किया।

__काव्य शास्त्रीय व्याख्या__ :— पार्वती को विवाह हेतु तैयार करने के लिए सखी उनके चरणों में महावर लगाने लगी। महावर लगाने के बाद उस सखी ने यह आशीर्वाद दिया कि तुम इस महावर [लगे] चरण से अपने प्रियतम के सिर की चन्द्रकला को स्पर्श करना।' सिर [पूज्य] होता है उस पर किसी का प्रहार अनुचित है पुनश्च पत्नी पति के सिर पर प्रहार करे, यह तो अत्यधिक निन्दनीय है तो यहाँ कालिदास ने सखी के द्वारा कैसा आशीष दिलवाया है, और उस सखी की ऐसी अनुचित वाणी पर पार्वती भी कुछ नहीं बोली और माला से खिलवाड़ करते हुए प्रहार किया। परन्तु कालिदास व्यञ्जनावादी कवि हैं। उन्होंने यहाँ व्यङ्ग्य का प्रकाशन किया है कि पार्वती अपनी सपत्नी (चन्द्रकला) से रहित प्रियतम का अखण्ड रति सुख प्राप्त करें। यहाँ नखरंजन के बाद परिहासपूर्वक सखी के द्वारा आशीर्वाद पाकर पा[र्वती] का बिना बोले माला का प्रहार करना, अनुभाव है। इससे पार्वती के कौतुक, औ[त्]सुक्य, प्रहर्ष, लज्जा आदि अनेक व्यभिचारी भावों की सम्पत्ति अनुमित हो[ती] है— "इत्यत्र हि नखरञ्जनानन्तरं परिहासपूर्वं सख्या कृताशिषो देव्या [निर्]वचनं माल्येन हननं तत् तदनुभावभूतं तस्याः कौतुकौत्सुक्यप्रहर्षलज्जादिव्य[भि]चारिसम्पदमनुमापयति।" (व्यक्ति विवेक)

यह वाच्य अर्थ से अनुमितार्थ हुआ। इस अनुमित अर्थ से अर्थात् अनुमान [से] प्रतीत व्यभिचारीभावों से भगवान् शिव में पार्वती के अनुराग का अनुमान किया जाता है— "सा चानुमीयमाना सती भगवति भवे भर्तरि रतिमनुमापयति"

इसप्रकार इस अनुमित अर्थ से भी अनुमेयार्थ की प्रतीति होती है।

इसप्रकार के अनुमितानुमेयार्थ को महिमभट्ट काव्य मानते हैं क्यों कि यह व्यभि[चारी] ... है और इसप्रकार के यहाँ औत्सुक्य आदि व्यभिचारियों से

|| अर्धालोचनात्मक प्रश्नोत्तराणि ||

प्रश्न:- ध्वनिलक्षण में महिमभट्ट द्वारा प्रतिपादित दश दोषों की समीक्षा करें।

उत्तर:- राजानक महिमभट्ट 'व्यक्ति विवेक' नामक ध्वनिध्वंस ग्रन्थ के रचयिता हैं। यह काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ ध्वनि ध्वंस का अकेला ग्रन्थ है। इसके अतिरिक्त ध्वनि ध्वंसात्मक अन्य ग्रन्थ नहीं मिलते हैं। भट्टनायक का 'हृदय दर्पण' नामक ध्वनिखण्डन का ग्रन्थ था किन्तु अब वह प्राप्त नहीं होता है। इसलिए महिमभट्ट के अतिरिक्त जितने भी साहित्य शास्त्र विषयक आचार्यों के ग्रन्थ हैं, सबमें ध्वनि को माना गया है। ध्वनिवाद की स्थापना आनन्दवर्धनाचार्य ने 'ध्वन्यालोक' नामक ग्रन्थ लिख कर की है। महिमभट्ट ने ध्वनि को खण्डित करते हुए उसका अनुमान में ही अन्तर्भाव किया है। जैसा कि व्यक्तिविवेककार लिखते हैं-

"अनुमानेऽन्तर्भावं सर्वस्यैव ध्वनेः प्रकाशयितुम्। व्यक्तिविवेकं कुरुते प्रणम्य महिमा परां वाचम्॥"

महिमभट्ट ने ध्वनिलक्षण जो आनन्दवर्धन ने लिखा है, उसमें दश दोष दिखाये हैं। ध्वनिकार द्वारा रचित ध्वनिलक्षण की कारिका यह है-

"यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यंक्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः॥"
(ध्वन्यालोक प्र० उ०)

इस उपर्युक्त ध्वनि-कारिका में मुख्य दश पद हैं, और इसमें महिमभट्ट ने दश ही दोष दिखाये हैं। ये दश दोष व्यक्ति विवेककार ने कारिका में संगृहीत किये हैं- "अर्थस्य विशिष्टत्वं शब्दः सविशेषणस्तदः पुंस्त्वम्।
द्विवचनवाशब्दौ च, व्यक्तिर्ध्वनिनाम काव्यवैशिष्ट्यम्॥
वचनञ्च कथनकर्तुः कथिता ध्वनिलक्ष्मणीति दशदोषाः॥" (व्य

अर्थात् (१) अर्थ का विशेषण। (२) शब्द। (३) शब्द का विशेषण। (४) 'तत्' शब्द का पुल्लिंगत्व। (५) 'व्यंक्तः' में द्विवचन। (६) वा शब्द। (७) 'व्यङ्क्तः' में व्यञ्जना। (८) ध्वनि नाम। (९) 'काव्यविशेष' पद में काव्य का वैशिष्ट्य। (१०) कथन क्रिया के कर्ता का शब्दतः कथन।

इन दश दोषों का विवेचन करते हुए इनकी समीक्षा प्रस्तुत करते हैं।-

१. अर्थ का विशेषण:- ध्वनिकारिका में जो अर्थ का विशेषण उपसर्जनीकृतस्वार्थौ दिया है वह उचित नहीं है। क्योंकि वह अर्थ (वाच्य) प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति के लिए ग्रहण किया जाता है, अतः उसमें कभी उपसर्जनीभाव का अभाव नहीं रहता है- "उक्तं गुणीकृतात्मत्वं यदर्थस्य विशेषणम्।
गमकत्वान्न तत् तस्य युक्तमव्यभिचारतः॥"
अग्नि इत्यादि की सिद्धि के लिए अपनाये गये धूम आदि सदैव अप्रधान (गौण) रहते हैं। अतः अर्थ के विशेषण को ध्वनिकार के द्वारा शब्दतः नहीं कहना चाहिए। यह ध्वनिकारिका में महिमभट्ट के अनुसार एक दोष है।

१०. कथन क्रिया के कर्ता का शब्दतः कथन :— आनन्दवर्धन ने ध्वनिलक्षण कारिका में 'सूरिभिः कथितः' कहा है। इसमें 'सूरिभिः' का कथन व्यर्थ है। यह शुद्ध कर्तृत्वपक्ष तथा विशिष्ट कर्तृत्वपक्ष दोनों पक्षों में व्यपरीय नहीं है। जैसा कि कहा है— "किञ्च 'सूरिभिः कथित' इति कथनक्रिया कर्तृनिर्देशः पक्षद्वयेऽप्यवाच्य एव।" (व्यक्तिविवेक)

दो पक्षों का विवरण इस प्रकार है— (i) शुद्ध कर्तृत्व पक्ष — केवल कर्तृत्व की विवक्षा में क्रिया का कर्ता से व्यभिचार नहीं होता है। (ii) विशिष्ट कर्तृत्व पक्ष— इसमें तुरन्त पहले कहे गये के अनुसार विशेष व्यापार से ही उसके वैशिष्ट्य का ज्ञान हो जाता है। अतः अवाच्य वचन दोष होता है— "कर्तृमात्र विवक्षायां क्रियायाः कर्तव्यभिचारात् कर्तृविशेष विवक्षायामनन्तरोक्तक्रमेण व्यापारविशेषसम्बन्धादेव तद्विशेषावगति सिद्धेरित्यवाच्य वचनं दोषः।" (व्यक्तिविवेक)

आशय यह है कि ध्वनि संज्ञा किसी साधारण जन के मुख से नहीं निकल सकती उसका वक्ता अवश्य ही असाधारण होगा। अतः केवल 'कथितः' कह देना ही पर्याप्त है 'सूरिभिः' पद का कथन व्यर्थ ही है।

इस प्रकार महिमभट्ट ने ध्वनिलक्षण कारिका में दश मुख्य दोष दिखलाये हैं। इसके अतिरिक्त ध्वनि के भेद प्रभेदों के लक्षणों में जो दोष आते हैं उनकी गणना नहीं की गयी है— "ये त्वन्ये तद्भेदप्रभेदलक्षणगता न ते गणिताः।"

अतः ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धन ने जो ध्वनिलक्षण की कारिका लिखी है; उसके प्रत्येक पद में दोषपूर्णता है। महिमभट्ट ने ध्वनिलक्षण की कारिका स्वयं बनाकर दूसरे ढंग से प्रस्तुत की है— "वाच्यस्तदनुमितो वा यत्रार्थोऽर्थान्तरं प्रकाशयति।
सम्बन्धतः कुतश्चित् सा काव्यानुमितिरित्युक्ता॥"

अर्थात् वाच्य अथवा उससे अनुमित अर्थ किसी दूसरे अर्थ को किसी भी सम्बन्ध से प्रकाशित करे, उसे 'काव्यानुमिति' कहा जाता है। इस प्रकार यह ध्वनिलक्षण अनुमान का ही विषय है। अतः ध्वनि का अनुमान में ही अन्तर्भाव कर देना चाहिए यही महिमभट्ट का मत है।

महिमभट्ट ने ध्वनिलक्षण की कारिका में उपर्युक्त दोषों को दिखाकर यह बतलाया है कि जब ध्वनिकार का किया गया लक्षण ही दोषपूर्ण है तो उनके द्वारा (ध्वनिकार के द्वारा) प्रवर्तित ध्वनि मार्ग तो अवश्य ही दोषयुक्त होगा।

लटें लटकाकर पुत्रवधू ने घूमना प्रारम्भ किया है।
<u>काव्यशास्त्रीय व्याख्या</u> :- कोई व्यक्ति एक व्यापारी से कहता है जो व्यापारी पहले उसके यहाँ से व्याघ्र की खालें तथा हाथी के दाँत ले जाता था कि अब हमारे यहाँ हाथीदाँत तथा व्याघ्रकृत्ति नहीं मिल सकती है क्योंकि अब हमारे घर में एक सुन्दर पुत्रवधू उसके मुख पर लटकाकर जब से रहने लगी है तब से मेरा पुत्र उसी में आसक्त रहता है अब वह शिकार करने भी नहीं जाता है। इसलिए व्याघ्रकृत्ति एवं हाथीदाँत अब हमारे यहाँ नहीं हैं।
यहाँ अनुमान के माध्यम से महिमभट्ट इसका प्रतीयमान अर्थ निकालते हैं। अनुमान प्रक्रिया में जैसे धूम वह्नि का व्याप्य तथा वह्नि धूम का व्यापक माना जाता है। उसीप्रकार यहाँ व्याध पुत्र की व्याघ्रादिवधपरता व्यापक है तथा घर में व्याघ्र चर्म आदि का सद्भाव व्याप्य है। अर्थात् वहेलिये के घर में व्याघ्र चर्मादि का सद्भाव तभी हो सकता है जब उसके पुत्र में व्याघ्रादि वध की तत्परता हो। किन्तु पुत्रवधू का लुलितालकमुखीत्व पुत्र के व्याघ्रादि वधपरता रूपी व्यापक के विरुद्ध है - "अत्र हि वक्ष्यमाणप्रकारेण वृद्धव्याधेन वाणिजकं प्रति हस्तिदन्ताद्यभावप्रतिपादनाय व्यापकविरुद्धकार्योपलब्धि प्रयुक्ता।" (व्यक्ति विवेक)
व्यक्तिविवेककार ने दो वस्तुमात्रों से अन्तरित प्रतीयमानार्थ को इसप्रकार स्पष्ट किया है - "हस्तिदन्तव्याघ्राजिनादिसद्भावो ह्यस्मद्गृहे समर्थस्य सतः सुतस्य तद्व्यापादनव्यापारपरतया व्याप्तः। तद्विरुद्धं च स्नुषासौभाग्यातिरेकप्रयुक्तमविरतसम्भोगसुखासङ्गजनितमस्य निस्सहत्वम्। तत्कार्यं च स्नुषाया विलुलितालकमुखीत्वमिति।" (व्यक्ति विवेक)
यहाँ स्नुषापरिणवककन के द्वारा उसके सौभाग्यातिशय का अनुमान होता है। उसके फलस्वरूप वधू के लुलितालकमुखीत्व द्वारा पुत्र के निरन्तर सम्भोगसुखासंगपरत्व का तथा इसके बाद व्याघ्रवधवैमुख्य की प्रतीति होती है। यह दो वस्तुमात्रों से अन्तरित है एक 'वधूसौभाग्यातिशय' और दूसरी 'सम्भोगसुखासंगपरत्व'। अतः यहाँ कोई विशेष चमत्कार नहीं होता है, यह महिमभट्ट का मत है।
ध्वनिवादी के अनुसार यहाँ ध्वनि है। इसमें सुरत की क्रीडासक्ति को लुलितालकमुखी पद स्वतः सम्भवी अर्थशक्ति से सूचित करता है और पुनः उसके पति की अविरत सम्भोग से उत्पन्न दुर्बलता को प्रकाशित करता है - "अत्र 'लुलितालकमुखी' इत्येतत् पदं व्याधवध्वाः स्वतःसम्भावितशरीरार्थशक्त्या सुरतक्रीडासक्तिं सूचयत् तस्य भर्तुः सततसम्भोगक्षामतां प्रकाशयति।" (ध्वन्यालोक तृतीय उद्योत)
इसप्रकार यहाँ ध्वनि है ऐसा आनन्दवर्धनादि का मत है।

'वा' पद उभयार्थक माना जाय तो वाच्यवाचक में क्रम भाव होने के कारण शब्द तथा अर्थ की परस्पर सहकारिता नहीं बनती है। 'वा' पद को समुच्चयार्थ मानने पर ध्वनित्व सदा शब्द तथा अर्थ दोनों पर होगा एक एक पर नहीं। इसके फलस्वरूप ध्वनिलक्षण में अव्याप्ति दोष होगा। इसलिए 'वा' पद का प्रयोग दोषपूर्ण है।

6. 'व्यङ्क्तः' में व्यञ्जना :— ध्वनिलक्षणकारिका में ध्वनिकार ने 'व्यङ्क्तः' पद लिखकर व्यञ्जना वृत्ति की सिद्धि की है। परन्तु महिमभट्ट के अनुसार यह उचित नहीं है क्योंकि शब्द में अभिधा के अतिरिक्त अन्य कोई शक्ति नहीं होती है, अतः व्यञ्जना मानना युक्ति संगत नहीं है। व्यञ्जना के द्वारा जो अर्थ निकाला जाता है वह अनुमान के द्वारा भी ज्ञेय है अतः व्यञ्जना का उपादान व्यर्थ है — "शब्दस्यैकाभिधा शक्तिरर्थस्यैकैव लिङ्गता।

न व्यञ्जकत्वमनयोः समस्तीत्युपपादितम् ॥"

व्यञ्जना का खण्डन महिमभट्ट ने बड़े विस्तार से व्यक्तिविवेक में किया है।

7. ध्वनि नाम :— वैयाकरणों ने यह ध्वनि नाम दिया है जैसा कि महाभाष्यकार लिखते हैं - 'अथवा प्रतीतपदार्थको लोके ध्वनिः शब्द इत्युच्यते।" (महाभाष्य) यही ध्वनि नाम साहित्यशास्त्रियों आनन्दवर्धन आदि विद्वानों ने स्वीकार किया है। परन्तु वैयाकरणों ने जो अन्त अक्षर से अभिव्यक्त होने वाले स्फोट रूप अर्थ के साथ व्यङ्ग्यव्यञ्जक भाव माना है, वह सम्भव नहीं है। अतः उसी के साम्य से जो शब्दार्थरूप काव्य में ध्वनि व्यवहार किया गया है वह ठीक नहीं है — "श्रूयमाणानां शब्दानां ध्वनिव्यपदेश्यानामन्तःसन्निवेशिनश्च स्फोटाभिमतस्यार्थस्य व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावो न सम्भवतीति व्यञ्जकत्वसाम्याद् यः शब्दार्थात्मनि काव्ये ध्वनिव्यपदेशः सोऽप्यनुपपन्नः।" (व्यक्तिविवेक)

अतः ध्वनिकार के द्वारा 'ध्वनि' शब्द का कथन दोषपूर्ण ही है।

8. 'काव्यविशेषः' पद में काव्य का वैशिष्ट्य :— 'काव्यविशेषः' कहकर ध्वनिकार ने काव्यविशेष को ध्वनि माना है। यह ध्वनिकार का कथन अनुपपन्न है क्योंकि काव्यमात्र को ध्वनि कहना चाहिए, काव्यविशेष को नहीं। आनन्दवर्धन ने 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः' तथा 'काव्यस्यात्मा स एवार्थः' यह कहकर काव्य की आत्मा को ध्वनि कहा है और वही ध्वनि रसात्मक रूप से भी मान्य है। यह सब स्वीकार करने बाद भी विशिष्ट काव्य को ध्वनि कहना उचित नहीं है — "अपि च काव्यविशेष इत्यत्र काव्यस्य विशिष्टत्वमनुपपन्नम्, काव्यमात्रस्य ध्वनिव्यपदेशविषयत्वेनेष्टत्वात् तस्य रसात्मकत्वोपगमात्।" (व्यक्तिविवेकः)

अतः ध्वनिलक्षणकारिका में 'काव्यविशेषः' पद का प्रयोग दोषपूर्ण है।

व्यक्तिविवेकव्याख्यानकार रुय्यक ने ध्वनिकार के अर्थ विशेषण को उचित माना है और कहा है कि गुणीभूतव्यङ्ग्य तथा समासोक्ति आदि में वाच्यार्थ अपने आप में पूर्ण रहता है और प्रतीयमान अर्थ द्वारा उपस्कृत किया जाता है। अतः उपसर्जनीकृतात्म जो अर्थ का विशेषण है, उसका अभिप्राय प्रतीति का उपाय होना नहीं और न अचारुत्व ही है अपितु प्रतीत अर्थों की अनुपकार्यता है, जैसा कि रुय्यक कहते हैं-

"गुणीकृतात्मतार्थस्य न प्रतीतावुपायता। नाचारुत्वमपि त्वर्थौ द्वैरनुपकार्यता ॥"

इसलिए अर्थ का उपसर्जनीकृतात्मत्व ठीक ही है।

2. शब्द का ग्रहण !— ध्वनिलक्षण कारिका में शब्द का ग्रहण नहीं करना चाहिए क्योंकि महिमभट्ट शब्द का केवल एक अभिधाव्यापार ही मानते हैं अतः काव्य में शब्द प्रतीयमान के लिए उपयोगी नहीं होता है। जैसा कि व्यक्तिविवेक का कथन है-"शब्दः पुनरनुपादेय एव। तस्य स्वार्थाभिधानमन्तरेण व्यापारान्तरानुपपत्तेः - - - - - ।" अतः शब्द का ग्रहण ध्वनिलक्षणकारिका में निष्प्रयोजन है।

3. शब्द का विशेषण !— शब्द का विशेषण उपसर्जनीकृता[illegible]र्थत्व जो ध्वनिकार ने दिया है, वह उचित नहीं है क्योंकि शब्द का ग्रहण उस अर्थ के लिए ही किया जाता है अतः यह कहना उचित नहीं है शब्द उसी अर्थ को गौण बना देता है, जैसे उदक आदि के उपादान के लिए ग्रहण किये गये घट आदि उस उदक आदि को अप्रधान नहीं [illegible] कर देते हैं- "अन्यस्य तूपसर्जनीभावाव्यभिचारः। तस्य तदर्थमुपादानतः, यो हि यदर्थमुपादीयते, नासौ तमेवोपसर्जनीकरोतीति युक्तं वक्तुम्। यथोदकाद्युपादानार्थमुपात्तो घटादिस्तमेवोदकादि।" (व्यक्तिविवेक) दूसरा तथ्य यह है कि शब्द के अर्थ का उपसर्जनीकृतत्व शब्द के उपसर्जनीकृतार्थत्व विशेषण के बिना भी स्वयं अर्थ के उपसर्जनीकृतात्मत्व विशेषण से ज्ञात हो जात[ा] अतः ध्वनि लक्षण में उसका उपादान पुनरुक्त दोष उत्पन्न करता है। इसे महिमभ[ट्ट] ~~[illegible] शब्द का पुल्लि[illegible]~~ की संग्रहकारिका के द्वारा भी देखा जा सकता है-

"वाचो गुणीकृतार्थत्वं न सम्भवति जातुचित्।
तदर्थं तदुपादानादुदकार्थं दृतेरिव ॥" (व्यक्ति[विवेक])

व्यक्तिविवेकव्याख्यानकार रुय्यक ने इस कथन का खण्डन किया है कि शब्द का उपसर्जनीकृतार्थत्व उचित ही है, यह व्यङ्ग्य अर्थ के प्रति होता है क्योंकि वाच्य ग्रहण उसी व्यङ्ग्यार्थ के लिए होता है जैसे जल के लिए दृति का उपादान होता है-

"वाचोगुणीकृतार्थत्वं व्यङ्ग्यमर्थं प्रति स्थितम्।
तदर्थं तदुपादानादुदकार्थं दृतेरिव ॥" (रुय्यक)

इस प्रकार उक्त दोष की समीक्षा हुई।